IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

समसामयिक आत्मकथाओं का सामाजिक विश्लेषण

राजकुमार अहिरवार

सहायक प्राध्यापक, हिन्दी

शास. स्वशासी कन्या स्नातकोत्तर उत्कृष्टता महाविद्यालय, सागर (म.प्र.)

एवं शोधार्थी

बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल (म.प्र.)

शोध-सारांश-

सामाजिक संदर्भों को व्यक्त करने के लिए साहित्य एक सशक्त माध्यम होता है। साहित्य समाज के विविध फलकों को अपने अंदाज में प्रस्तुत कर सामाजिक क्रियाकलापों को जाँचता परखता भी रहता है; इसीलिए साहित्य समाज का दर्पण कहा जाता है। सामाजिक विचारों-अवधारणाओं को अभिव्यक्त करने के लिए साहित्य अपनी विविध गद्यविधाओं- निबन्ध, कहानी, उपन्यास, नाटक, आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण आदि को साधन बनाता है और सामाजिक रूप से ग्राह्य विषय-वस्तुओं को समाज के ही सम्मुख कलात्मक एवं रोचक रूप में प्रस्तुत कर स्वयं को प्रतिस्थापित कर लेता है, अर्थात् साहित्य समाज का हितैषी भी होता है। साहित्य के लिए चाहे राजनीति का क्षेत्र हो या अर्थनीति का, चाहे समाज का क्षेत्र हो धर्म-व्यवस्था का, चाहे नीति का हो या दर्शन का, चाहे लोकरंजन का हो या शास्त्रीय क्षुधा-पूर्ति का; वह सभी क्षेत्रों-विषयों में अपनी सहभागिता सुनिश्चित कर समाज के लिए हित-अनहित के विचार-विश्लेषण प्रस्तुत कर समाज को एक नयी दिशा देने का प्रयास करता है। अतः साहित्य सभी प्रकार की चुनौतियों का सामना करता आया है और वर्तमान में भी कर रहा है; इसलिए उसका तत्कालीन एवं समसामयिक परिप्रेक्ष्य से जुड़ाव-लगाव सतत् बना रहता है। साहित्य समाज की प्रतिकृति होता है। साहित्य में मानवीय व्यवहार के समस्त रूप विद्यमान होते हैं। समाज की प्रत्येक गतिविधि का सूक्ष्म विश्लेषण साहित्य की विविध विधाओं में अंशतः या समग्रतः उपस्थित रहता है। साहित्यिक गद्य-विधाओं में 'आत्मकथा' वह विधा है जिसमें व्यक्ति अपने जीवन की समस्त घटित घटनाओं का दुराग्रह या पूर्वाग्रह रहित भावना से वर्णन करता है। आत्मकथा में अभिव्यक्त घटनाएँ सामाजिक दृष्टि से अधिक विश्लेषण करने योग्य होती हैं; क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होता है। वह अनेकानेक रूढ़ियों, परम्पराओं, प्रथाओं, रीतियों, विचारों एवं संस्कारों से प्रेरित होता है एवं उनका पालन भी करता है, जिसके परिणामतः कभी-कभी सामाजिक या पारिवारिक टकराव की स्थिति निर्मित हो जाती है। सामाजिक संघर्षों, टकराहटों का सामाजिक दृष्टि से अनुसंधान करना ही आत्मकथाओं का ध्येय है। साहित्य के अंतर्गत स्त्री-रचनाधर्मिता ने उन अनेक पुरातन विचारों को भस्मीभूत करने का प्रयास किया है जो अर्धांश (स्त्री-समाज) को नकारते आये हैं। स्त्री-आत्मकथाकारों ने स्त्री-जीवन के उस सच को अपनी कलम से रेखांकित किया है, जिसमें पितृसत्तात्मक समाज की पूरी की पूरी पोलपट्टी खुलकर सामने बिखरी नजर आने लगती है। इस आलेख में समसामयिक स्त्री-आत्मकथाओं और दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त सामाजिक दृष्टिकोण पर विचार किया गया है। यह परखने का प्रयास किया गया है

कि स्त्री-समाज और दलित समाज अपनी पीड़ा, आकांक्षा और योग्यता को अभिव्यक्त करने के लिए किस स्तर तक साहसिक प्रयास करने के लिए प्रतिबद्ध है।

कुंजी-शब्द-

सामाजिक दृष्टिकोण, उद्देश्यपूर्ण विवेचन, सांस्कृतिक संदर्भ, तर्कहीन व्यवस्था, यौनाचार, परम्परागत मान्यताएँ, आत्मकथात्मक साहित्य, समसामयिक साहित्य, किन्नर-समाज, दलित-समाज, स्त्री-समाज, जूठन, मुर्दहिया, आपहुदरी, भंगी, पुरोहित, सवर्ण-समाज, बोल्डनेस, कबूतरा।

साहित्य के अन्तर्गत 'आत्मकथा' एक सशक्त गद्य विधा है। यह विधा स्वयं लेखक द्वारा भोगा गया, परखा गया या अनुभव किया गया जीवन का संस्मरणात्मक विश्लेषण है। किसी लेखक की भूतकालिक अवस्था में घटित घटनाओं में से उन घटनाओं, क्रिया-कलापों का प्रामाणिक लेखन आत्मकथा है जो पाठकों को पढ़ने के लिए, विचार करने के लिए, दृष्टिकोण परीक्षण के लिए मजबूर और द्रवीभूत कर देता है। आत्मकथा का उद्देश्यपूर्ण विवेचन यह तर्क प्रस्तुत करता है कि यदि किसी आत्मकथा में वर्णित घटनाएँ किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की उन्नति के लिए उपयोगी या लाभकारी हैं, तब तो उन्हें ग्रहण किया जाना चाहिए; अन्यथा यदि वर्णित घटनाएँ या कार्यविधियाँ व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की उन्नति में बाधक हैं, तब उन्हें भविष्य में दोहराने से बचना चाहिए। चूँकि भारतीय समाज बहुरंगी, बहुधर्मी और बहुदृष्टिकोणीय है; इसलिए उसमें विविधता आना स्वाभाविक है। भिन्न-भिन्न सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक, आर्थिक व सांस्कृतिक दृष्टिकोण मंे बहुलता होने से आत्मकथा लेखन में विविधताएँ स्पष्टतः झलकती हैं। प्राकृतिक विभाजन के अनुसार प्रत्येक समाज या राष्ट्र में मनुष्य दो लिंगों- स्त्री और पुरुष में मुख्य रूप से विभाजित पाया जाता है। हालाँकि तृतीय लिंग का समाज भी अपने को एक पृथक लिंगीय समाज के रूप में स्थापित होने की ओर अग्रसर है। इस लिहाज से तृतीय लिंगी समाज को भी अपनी व्यथा-कथा कहने का, उन्हें प्रचारित-प्रसारित करने का बराबर का हक है। फिर भी इस आलेख मंे तथ्यों के विश्लेषण पर ध्यान केन्द्रित करने का प्रयास किया गया है कि इक्कीसवीं सदी के प्रथम चतुर्थांश में प्रकाशित स्त्री-आत्मकथाओं, दलित आत्मकथाओं और किन्नर आत्मकथाओं में किस-किस प्रकार के सामाजिक दृष्टिकोण प्रस्तुत हुए हैं और उनका सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ क्या है? एवं उनकी अनुसंधानपरक व्याख्या की आवश्यकता क्यों है? और इस कालखण्ड की आत्मकथाएँ स्त्री-समाज एवं अन्य स्त्री-इतर समाज को कितना प्रभावित करती हैं? इक्कीसवीं सदी के प्रारंभिक दो-ढाई दशकों में साहित्य की अन्य विधाओं में से सर्वाधिक सशक्त विधा के रूप में 'आत्मकथा' विधा बहुत तेजी से आगे बढ़ रही है। इन प्रारंभिक दो-ढाई दशकों के समयकाल को समसामयिक काल में परिगणित कर समय-विशेष की कार्यप्रणालियों एवं घटनाओं-संदर्भों को अभिव्यक्त करने के लिए साहित्यकारों ने 'आत्मकथा' विधा को सबसे उपयुक्त पाया है; इसलिए कि आत्मकथा विधा के माध्यम से लेखक स्वयं के द्वारा अर्जित किये गए अनुभवों, कार्य-कलापों, विचारों और घटनाओं को बिना किसी लाग-लपेट के ज्यों-का-त्यों पाठक-समाज के सम्मुख बिना-हिचक प्रस्तुत कर देता है; इसलिए आत्मकथा-साहित्य में प्रामाणिकता और वास्तविकता की यथार्थता अधिक प्रतीत होती है। दूसरा यह कि आत्मकथा में व्यक्त घटनाओं, नामों, स्थानों का परीक्षण भी किया जा सकता है; इसलिए आत्मकथाओं में कल्पना या अनुमान का अंश कम ही पाया जाता है। चूँकि साहित्य चुनौतियों को स्वीकार करता है, उनको जटिल से सुगम बनाता है और स्वयं का अपना एक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है; इसलिए आत्मकथा विधा के संदर्भ में उभरती हुई चुनौतियों का विश्लेषण-विवेचन अनिवार्य हो जाता है और साथ ही चुनौतियों के समाधान के लिए एक नवीनतम और तार्किक दृष्टिकोण प्रस्तुत करना भी साहित्य के लिए लाजिमी हो जाता है।

साहित्य जगत् में विगत 20-25 वर्षों में आत्मकथा के रूप में पर्याप्त वृद्धि हुई है। बहुत से आत्मकथाकार अनाम थे, जो इक्कीसवीं सदी के इन वर्षों में अपनी आत्मकथाओं के प्रकाशन से आम पाठक से परिचित हुए हैं। हिन्दी भाषा के अतिरिक्त अन्य आत्मकथाएँ भिन्न-भिन्न भाषाओं- मराठी, तेलगू, मलयालम, बंगाली, पंजाबी, उर्दू एवं अंग्रेजी में मूलतः लिखी गई हैं; जिनका हिन्दी भाषा में अनुवाद होने से वे सर्वव्यापी एवं सर्वग्राही हो रही हैं। इस कालखण्ड में महिला आत्मकथाकारों ने अपनी कथा-व्यथा को पाठक के सम्मुख रखा है, तो दलित समाज के आत्मकथाकारों ने भी अपने-अपने अनुभव साझा किये हैं। इतना ही नहीं समाज का अति-उपेक्षित समाज-किन्नर, सेक्सवर्कर, घुमक्कड़, विमुक्त, आदिवासी आदि ने भी अपने जज्बात पाठक-समाज से साझा किये हैं। इस तरह की आत्मकथाओं में व्यक्तिगत पीड़ाएँ, कुण्ठाएँ, अपमान, भूख, हारी-बीमारी, बेरोजगारी, बेगारी, अशिक्षा, उत्पीड़न के दंश भी देखने को मिलते हैं, जिन्हें आत्मकथाकारों ने स्वयं झेला है, सहा है; साथ ही उन

सामूहिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक-सांस्कृतिक और आर्थिक समस्याओं-विपदाओं का भी उल्लेख किया है, जो समाज को समाज से, समाज को राष्ट्र से और व्यक्ति को व्यक्ति से एवं समाज तथा राष्ट्र से अलगाव के लिए प्रेरित करती हैं। भगवानदास की आत्मकथा 'मैं भंगी हूँ', ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन', श्यौराज सिंह बेचैन की 'मेरा बचपन मेरे कंधों में', डॉ. तुलसीराम की 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका', डॉ. भागीरथ की 'मेरी पत्नी और भेड़िया', सूरजपाल चैहान की 'संतप्त', कौशल्या बैसंत्री की 'दोहिरा अभिशाप' सुशील टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द', विष्णु प्रभाकर की 'पंखहीन', राजेन्द्र यादव की 'मुड़-मुड़ के देखता हूँ', प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या', मैत्रेयी पुष्पा की 'गुड़िया भीतर गुड़िया', रमणिका गुप्ता की 'आपहुदरी' और 'हादसे', मन्नू भण्डारी की 'एक कहानी यह भी', जोश मलीहावादी की 'यादों की बारात', नलिनी जमीना की 'एक सेक्स वर्कर की आत्मकथा', मानोबी बन्द्योपाध्याय की 'पुरुष तन में फँसा मेरा नारी मन', लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी की 'मैं हिजड़ा मैं लक्ष्मी', सीता रत्नमाला की 'जंगल से आगे', लक्ष्मण गायकवाड़ की 'उचक्का' एवं शरण कुमार लिम्बाले की 'अक्करमाशी' आत्मकथाओं में लिंगगत, वर्गगत, वर्णगत, जातिगत एवं धर्म व अर्थगत अनेकानेक प्रकार की चुनौतियाँ एवं प्रतिबद्धताएँ दृष्टिकोचर हुई हैं। भगवानदास की आत्मकथा 'मैं भंगी हूँ', ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' और डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' में उन सामाजिक बुराइयों अथवा चुनौतियों को व्यक्त किया गया है जो एक सभ्य समाज के उत्थान में बाधक बनती हैं। मसलन ग्रामीण और शहरी दोनों परिवेशों में मैला उठाने वाले (सफाईकर्मी) और मरे जानवर उठाने वाले (चर्मकर्मी) समाज की समस्त दुर्दशाओं, विवशताओं और सच्चाइयों का मर्म भेदी विवरण दलित आत्मकथाओं में व्याप्त है। ये आत्मकथाएँ यह प्रमाणित करती हैं कि जन्मगत, स्थानगत, वर्णगत असमानताएँ मनुष्य का जन्म से मृत्यु तक के सफर में पीछा नहीं छोड़ती हैं। व्यक्ति-विशेष कितना भी बौद्धिक प्रतिभा-सम्पन्न, शैक्षणिक योग्यताधारी और धन-सम्पत्ति का स्वामी क्यों न हो जाए; वह परम्परागत सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था का गुलाम आजीवन बना ही रहता है। वंचित-अछूत समाज में जन्म लेने वाले व्यक्तियों को लोकतांत्रिक व्यवस्था में भले ही देश का नागरिक माना जाता है; लेकिन उन्हें इसी स्वतंत्र देश भारत में दोयम दर्जे का नागरिक और जाति-वर्ण व्यवस्था में पशु से भी बदतर समझा जाता है। यहाँ तक कि उसे समानता, स्वतंत्रता, बंधुता, शिक्षा, स्वास्थ्य, सम्पत्ति, धार्मिक पर्यटन, पूजा-उपासना, अंतिम संस्कारों (मृत्यु के उपरांत) की क्रियाविधि से उच्च जातीय समाजों, रसूखदारों, पण्डा-पुरोहितों, राजनीतिक लठैतों और धर्म के ठेकेदारों द्वारा वंचित किया जाता है।

वैश्विक एवं भारतीय ऐतिहासिक चिन्तन-धारा में स्त्री-समाज के प्रति पुरातन-सनातन काल से या जबसे मनुष्य बुद्धिधारी हुआ है; तब से वह स्त्री-पुरुष में भेद करता आया है। हमेशा से पुरुष समाज स्त्रियों के प्रति हिंसात्मक और नकारात्मक प्रवृत्तियों का पोषक रहा है। वह देवता, नायक, शासक, धर्मगुरु, पिता, पति और पुत्र के रूप में स्त्रियों का नियामक बना रहा है, जिसके परिणामतः स्त्री-समाज दासता या गुलामी की ओर अग्रसर हुआ है। हजारों वर्षों तक पुरुष की पितृात्मक सत्ता, पौरुषता, शारीरिक बलिष्ठता और शैक्षणिक दास बनने के लिए स्त्रियाँ मजबूर रही हैं। यूरोप के पुनर्जागरण ने पहली बार महिला जगत् को पुरुष के समानान्तर चलने के दरवाजे खोले हैं; अन्यथा स्त्रियाँ, पुरुष-समाज और उसकी व्यवस्था के पिछलग्गू ही बनी रहतीं। यूरोप का यही पुनर्जागरण जब अंग्रेजी सत्ता के माध्यम से भारत में प्रवेश करता है; तब कहीं जाकर भारत की स्त्रियाँ दिवाकिरण का आभास कर पाती हैं। अंततः भारत में महिला-मुक्ति का सशक्त माध्यम बना भारत की स्वतंत्रता और लोकतंत्र की स्थापना। इन दो कारणों- स्वतंत्रता और लोकतंत्र ने जो मार्ग आलोकित किया है, उससे प्रेरित होकर भारतीय नारियों ने मन, कर्म और विचार से अभिभूत होकर समाज के लिए नये मानदण्ड स्थापित किये हैं। इन्हीं मानदण्डों का परिणाम है कि आज की भारतीय नारी लेखक कर्म के माध्यम से उन व्यवस्था रूपी घावों को समाज के सम्मुख प्रस्तुत कर रही हैं, जिन्हें पुरुष-समाज ने कभी भरने ही नहीं दिया, उसकी मरहम-पट्टी तो दूर की बात है। समाज में प्रचलित अनेक उन अप्रासंगिक रूढ़ियों, परम्पराओं, प्रथाओं, लोकमर्यादाओं, धार्मिक-सांस्कृतिक मान्यताओं को प्रबुद्ध-अप्रबुद्ध समाज के सम्मुख लाने का सशक्त प्रयास स्त्री-साहित्यकारों ने बड़े करीने से, मर्यादा के साथ एवं तर्कों के सहारे आत्मकथाएँ लिखकर अपनी पीड़ाओं, वर्जनाओं और इच्छाओं-आकांक्षाओं को प्रस्तुत किया है। आत्मकथाकार पुष्पा मैत्रेयी ने 'कस्तूरी कुण्डल बसै', 'गुड़िया भीतर गुड़िया', रमणिका गुप्ता ने 'आपदुहरी', 'हादसे', प्रभा खेतान ने 'अन्या से अनन्या', मन्नू भण्डारी ने 'एक कहानी यही भी', अहिल्या मिश्रा ने 'दरकती दीवारों से झाँकती जिंदगी' आत्मकथा लिखकर अपने तेवर पाठक-समाज को दिखाये हैं। आत्मकथा 'कस्तूरी कुण्डल बसै' एवं 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में लेखिका मैत्रेयी पुष्पा ने अनेक प्रसंगों में यह उद्धृत किया है कि स्त्री-जाति हमेशा ही पुरुष-जाति द्वारा छली गई है। 'कस्तूरी कुण्डल बसै' में लेखिका की माँ कस्तूरी अपने यौवनकाल में विवाह के नाम पर बेची जाती है, क्योंकि भारतीय पौराणिक व्यवस्था स्त्री को एक

उपयोग की वस्तु मानती हैं; अन्यथा 1940 के दशक में; जब स्वतंत्रता का आन्दोलन चरम पर था, कस्तूरी को बेचने का सवाल ही पैदा न होता। वहीं कस्तूरी जब अपनी पुत्री (मैत्रेयी पुष्पा) के जन्मोपरान्त वैधव्य को प्राप्त होती है; तब उसे अन्यत्र विवाह से वर्जित किया जाता है, सिर्फ इसलिए कि अन्यत्र विवाह से उसके नाम जमीन का बँटवारा हो जाएगा। यह आत्मकथा बताती है कि स्त्री कितना ही पढ़ लिख ले, रहना उसे पुरुष के अधीन है। भारत की पुरुषत्ववादी मानसिकता यह मानने को तैयार ही नहीं है कि स्त्री लिंगी जीव की अपनी स्वतंत्रता है, स्वतंत्र विचार एवं स्वतंत्र कार्यशैली है। इसलिए एकांगी यौन-सुख के लिए पुरुष प्रवृत्ति की यौनिकता ने हमेशा स्त्री (लड़की, युवती, वृद्धा) को अपनी यौनपूर्ति का साधन माना है। येन-केन-प्रकारेण कोई स्त्री अपनी इच्छानुसार अपनी यौन शुचिता को भले ही कायम रखने में कामयाब रहे; परन्तु पुरुष-प्रवृत्ति के अनुसार वह भोग की ही वस्तु है; तभी तो 'कस्तूरी कुण्डल बसै' की लेखिका स्वयं अनेक बार यौन दुराचरण का शिकार होती है, जिसकी न कहीं अपील होती है और न ही कोई उनकी दलील सुनने को तैयार होता है। कहने का आशय यह कि भारतीय सामाजिक दृष्टिकोण सनातन काल से ही एकांगी व पुरुष मुखाक्षेपी रहा है। उसके नजरिये में स्त्री-समूह की कोई सामाजिक हैसियत नहीं रही है। जब-जब पुरुषवादी मानसिकता पर बुद्धिवाद या तर्कवाद की कमान कसी गयी है; तब-तब वह पौराणिक-काल्पनिक देवियों को सम्मुख कर स्त्री-जाति को बेवकूफ बनाता आया है; और इसी दृष्टिकोण को भारतीय समाज ने स्वीकार कर पुरुष को 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं' के तथाकथित नीति वाक्य से सुरक्षा प्रदान कर दी है।

'गुड़िया भीतर गुड़िया' आत्मकथा-लेखिका मैत्रेयी उच्च शिक्षा प्राप्त होते हुए अपनी मन-मर्जी से विवाह करती हैं, लेकिन उन्हें वह सम्मान और आर्थिक आजादी प्राप्त नहीं हो पाती है जिसकी वे हकदार हैं। मैत्रेयी का पति दिल्ली एम्स का प्रतिष्ठित डाॅक्टर होने के बाद भी पुरातन रूढ़िवादी मानसिकता से ग्रसित है कि 'स्त्री को किसी भी अन्य अड़ोसी-पड़ोसी, नाते-रिश्तेदार, व्यवसायी-लेखक पुरुष से, पति की पुरुष-मित्रमण्डली से किसी भी तरह का मधुर संवाद नहीं करना चाहिए; क्योंकि पुरुष-समाज यह मानता है कि स्त्री-जाति अतिकामुक व्यवहार की होती है, जो किसी भी पर-पुरुष की ओर आकृष्ट हो जाती है। इस तर्क के लिए पुरुष-समाज ने मनुस्मृति को आधार माना है। मनुस्मृति के अनुसार स्त्री को जीवन-पर्यन्त पिता, पति या पुत्र के नियंत्रण में रहना चाहिए, अन्यथा स्त्री बेलगाम हो जाती है। इस तरह के अतार्किक व स्त्री-विरोधी विचार समाज में बहुत जल्दी स्वीकार्यता प्राप्त करते हैं और उत्पीड़न का अनुपात बढ़ने लगता है; क्योंकि रामचरित मानस भी स्त्री-विरोधी भावना का समर्थन "ढोल गँवार शूद्र पशु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।।" कहकर करता है।

'अन्या से अनन्या' प्रभा खेतान की आत्मकथात्मक रचना है। समाज में लंबे समय से यह धारणा अस्तित्व में है कि महिलाएँ बिना विवाह के अथवा बिना संतान के अधूरी हैं। इस भ्रांति को प्रभा खेतान ने ध्वस्त किया है। प्रभा की आत्मकथात्मक कृति से यह ज्ञात होता है कि स्त्री-जीवन सिर्फ विवाह या संतान-उत्पत्ति के लिए ही नहीं हैं; बल्कि स्वयं की आजादी, स्वयं के विचारों के वहन एवं प्रकाशन से भी है। प्रभा ने यह दृष्टिकोण सामाजिक स्तर पर अखित्यार किया है कि स्त्री बिना विवाह के सभी शारीरिक-भावनात्मक सुख भोग सकती है और मानसिक रूप से प्रबुद्ध होकर व्यापार-जगत् में भी सफल हो सकती है। स्त्री के प्रति परम्परागत सामाजिक दृष्टिकोण कि 'स्त्री बिना पुरुष के विकास नहीं कर सकती है या पल-पल सतायी जा सकती है', एक भ्रम है, मिथ्या दृष्टिकोण है। क्योंकि प्रभा खेतान ने अपने दम पर एकतरफा बाल-बच्चेदार डाॅक्टर सर्राफ से प्रेम किया है, उससे शारीरिक सुख भोगा है और गर्भधारण कर गर्भपात भी कराया है, लेकिन प्रेमी डाॅक्टर की न तो वैध पत्नी बनी है, और न ही किसी संतान की माँ बनी है। इसके बावजूद उसमें एक पत्नी और एक माँ के सभी लक्षण मौजूद रहे हैं। इन्हीं विलक्षण विशेषताओं के कारण प्रभा डाॅ. सर्राफ को मन से प्रेमी और पति मानती रही हैं, लेकिन कभी सुहागन होने की प्रतिबद्धता जाहिर नहीं होने दी है। भले ही वह खुद की संतान पैदा नहीं कर सकी, लेकिन प्रेमी डाॅक्टर की संतानों को अपनी संतानों जैसा वात्सल्य और प्यार दिया है। प्रभा का यह व्यवहार एक नये तरह का सामाजिक नजरिया है, जिसमें प्रतिबद्धता तो है, लेकिन अनिवार्यता नहीं है। शारीरिक सम्बन्धों को लेकर भी प्रभा का एक पृथक सामाजिक दृष्टिकोण है कि शारीरिक सुख के लिए किसी एक पुरुष पर निर्भर रहना जरूरी नहीं है। सेक्स एक शारीरिक और मानसिक आवश्यकता है, जिसे अपनी इच्छानुसार वैकल्पिक रूप से अर्जित किया जा सकता है। एक सफल व्यापारी बनकर प्रभा खेतान ने यह सामाजिक दृष्टिकोण भी दिया है कि एक महिला बिना किसी पुरुष की सहायता से वह स्थानीय या वैश्विक स्तर पर एक सफल कारोबारी बन सकती है। इसके प्रमाण स्वरूप प्रभा स्वयं अपने खुद के निर्णय, विवेक और परिश्रम से वैश्विक कारोबारी सिद्ध हुई हैं, जिसमें किसी परम्परागत पुरुष का रंचमात्र भी सहयोग नहीं है।

'एक कहानी यह भी' मन्नू भण्डारी की आत्मकथा है। इस आत्मकथा में मन्नू के जीवन का कथासार संग्रहीत है। मारवाड़ी जैन समाज में पैदा हुई मन्नू तथाकथित सामाजिक मानदण्डों के नाते माता-पिता से वह प्यार नहीं पा सकी जिसकी प्रत्येक संतान कामना करती है। साँवले शारीरिक रंग के कारण मन्नू मानसिक कुण्ठा की शिकार अपने बाल्यकाल में बनी ही रही हैं। यह मानसिक कुण्ठा मन्नू को विद्रोह के लिए उकसाती रही है। हृदय में व्याप्त मानसिक-भावनात्मक कुण्ठा को मन्नू भण्डारी ने एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया है। और यह निश्चय किया है कि पूर्वकाल से चलायमान अव्यावहारिक मानदण्डों को नकारने में ही स्त्री समाज का कल्याण है। भारतीय समाज का एक विद्रूप मनोवैज्ञानिक नजरिया रहता है कि 'स्त्री या पुत्री सदैव गौर वर्णा होनी चाहिए', जिस पर किसी का भी वश नहीं होता है। मन्नू भण्डारी के पिता धार्मिक रूप से तार्किक एवं गैर अंधविश्वासी होते हुए भी अपनी पुत्री से नैसर्गिक प्रेम नहीं करते थे। "मैं काली हूँ, बचपन से दुबली और मरियल भी थी। गोरा रंग पिता जी की मजबूरी थी, सो बचपन में मुझसे दो साल बड़ी खूब गोरी स्वस्थ और हँसमुख बहिन सुशीला से हर बात में तुलना और उसकी प्रशंसा ने ही क्या मेरे भीतर ऐसे गहरे हीनभाव ग्रंथि पैदा नहीं कर दी कि नाम, सम्मान और प्रतिष्ठा पाने के बावजूद आज तक मैं उससे उबर नहीं पाई?" अर्थात् पुरुष का स्त्री के प्रति दृष्टिकोण सकारात्मक कम नकारात्मक अधिक रहा है, अन्यथा स्त्री-समुदाय को मन्नू जैसा मानसिक कष्ट तमाम स्त्रियों को न भोगना पड़ता। पुरुषों की घृणित मानसिकता से पीड़ित महिलाएँ ज्यादातर अपमान-तिरस्कार, यौनाचार को अंदर ही अंदर घुटकर पी जाती हैं, लेकिन डा॔. अहिल्या मिश्रा जैसी स्त्रियाँ पुरुष की कुत्सित मानसिकता के प्रति विद्रोह भी कर बैठती हैं। "पुरुषों के प्रति अपने मन में ग्रंथि ने मुझे एक घृणा से भर दिया। मैं आरंभ से ही उन्हें नीचा दिखाने या अपने को ऊपर दिखाने के प्रति होड़ पाले बैठी थी। कुछ छिटपुट घटनाओं के कारण लड़कों से बदला लेने की वृत्ति बन गई। पुरुष को सामने पाकर मेरा अहम सर उठा लेता है। उसे हराने एवं नीचा दिखाने की वृत्ति मेरे अन्दर जोर मारने लगती है। मर्द को देखते ही मेरा दिमाग खिंचाव एवं कई सुनी-सुनाई घटनाओं से भर उठता था। नया कुछ सुनने के बाद तो मेरा मन क्रोध से भर उठता था।" उक्त कथन में आत्मकथाकार ने सामाजिक व्यवस्था की उस नकारात्मक प्रवृत्ति को चुनौती दी है जो स्त्री-जीवन को निम्नता की ओर गतिशील करती है। अर्थात् आत्मकथाकार डा॔. अहिल्या मिश्रा ने रूढ़िगत सामाजिक दृष्टिकोण का पर्दाफाश किया है जो समाज के प्रमुख अंग स्त्री को निचले पायदान पर रखता आया है।

प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' में उस सामाजिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह है जो स्त्री-स्वतंत्रता, सम्मान और सुविधा को कतई बर्दाश्त नहीं करती है। स्त्री की एक स्वतंत्र सत्ता होती है, उसके अरुमान, उसकी निजी आकांक्षाएँ एवं विचार होते हैं; जिसे वह जीना चाहती है; परन्तु दकियानूसी बाबा आदम के जमाने की सोच को सँजोकर चलने वाला समाज स्त्री को आजादी नहीं देता है, जिसका परिणाम यह होता है कि प्रभा खेतान जैसी स्त्रियाँ समाज के सामने मुखर होने लगती हैं। प्रभा ने इस परम्परागत तर्कहीन व्यवस्था से विद्रोह किया है और खुद उदाहरण बनकर पंगु समाज को चुनौती दी है- "मैं प्रभा खेतान.. मैं कौन हूँ? क्या मेरी कोई पहचान नहीं है? मैं सधवा नहीं, क्योंकि मेरी शादी नहीं हुई है, मैं विधवा नहीं . . . क्योंकि कोई दिवंगत पति नहीं, मैं कोठे पर बैठी हुई रंडी भी नहीं. . . क्योंकि मैं अपनी देह का व्यापार नहीं करती। मैं किसी पर निर्भर नहीं करती, स्वावलम्बी हूँ, अपना भरण-पोषण खुद करती हूँ। स्वेच्छा से एक जीवन का वरण किया है। तब मैं क्या हूँ? मैं अबोध हूँ . . . अबोध माने मूर्ख। दीन-दुनिया की सच्चाइयों से दूर। मैं विवाहित होकर किसी से अफेयर चलाये रखती, कुछ दिनों तक . . . तब भी ठीक था। लोग स्वीकार लेते, अवारगी को समाज स्वीकार लेता है। मगर अविवाहित रहकर एक विवाहित पुरुष, पाँच बच्चों के पिता के साथ टँगे रहना, भला यह भी कोई बात हुई?" प्रभा के इस रूप को समाज स्वीकारने में आनाकानी करता है। यह समाज का अपना नजरिया है, जिसे प्रभा ने कभी तवज्जो नहीं दी है; क्योंकि प्रभा किसी के टुकड़ो पर पलने के लिए मोहताज नहीं है। अतः जब स्त्री मानसिक, बौद्धिक और आर्थिक रूप से सम्पन्न हो जाती है, तब वही परम्परागत रूढ़िवादी समाज अपने घुटने टेकने के लिए मजबूर हो जाता है।

भारतीय समाज का एक परम्परागत और तथाकथित मानक घोषित-अघोषित सामाजिक सिद्धांत रहा है- अछूतों से अलगाव बनाये रखना। इस तरह का सैद्धांतिक दृष्टिकोण लगभग सभी धर्मों में किसी न किसी रूप से सदैव व्याप्त रहा है। सिख समुदाय भी इससे अछूता नहीं रहा है; क्योंकि सिखों का मूल तो हिन्दू धर्म ही है, और हिन्दू धर्म का जातीय कट्टरता का सिद्धांत सनातन से मान्य रहा है। 'आपहुदरी' आत्मकथा लेखिका रमणिका गुप्ता (मूलतः सिख, पंजाबी) ने भी उस जातिगत-धर्मगत सामाजिक बुराई का उल्लेख किया है जो एक उन्नत राष्ट्र के लिए बाधक ही रही है। बुराई यह कि समाज कितना भी उन्नत क्यों न हो रहा हो; वह अपनी मूल रूढ़िगत,

परम्परागत मान्यताओं को बिना वजह भी ढोता रहता है। जैसा कि समाज में प्रचलित है कि अस्पृश्य-अछूत जाति वर्णधारी मनुष्य को सछूत जातियों-सवर्णों द्वारा भोजन-व्यवहार में सम्मिलित नहीं किया जाता है। रमणिका गुप्ता जैसे कितने मनुष्य हैं जो यह मानते हैं कि अस्पृश्यों से समानता का व्यवहार करना चाहिए। हिन्दू समाज का एक दलित व्यक्ति कितने भी धर्म बदल ले, वह अपनी अछूत जाति से छुटकारा नहीं पाता है; क्योंकि धर्म बदलने से उसकी जाति नहीं बदलती है, जैसा कि रमणिका गुप्ता लिखती हैं कि "राम आसरे मैट्रिक की परीक्षा दे चुका था। वह हमारी जमादारनी (मेहतरानी) का बेटा था। खाना खाते समय मैंने कहा, "राम आसरे भी हमारे साथ बैठकर खायेगा।" मेरा तर्क था कि जब बाला मरदान (अछूत) का छुआ गुरु नानक खाते थे, तो ईसाई परिवार के राम आसरे का छुआ हम क्यों नहीं खा सकते।" रमणिका गुप्ता के कथन से यह संकेत मिलता है कि प्रबुद्ध व्यक्तियों का नजरिया रूढ़ सामाजिक आचार-विचार के प्रति बदल रहा है। यही बदलाव सामाजिक दृष्टिकोण को सकारात्मक स्वरूप प्रदान करने के लिए प्रेरित करता है, जिससे जड़ और अवरुद्ध समाज या राष्ट्र प्रगति के दरवाजे खोलने में सक्षम हो जाता है।

अपनी आत्मकथा 'कस्तूरी कुण्डल बसै' में आत्मकथाकार मैत्रेयी पुष्पा समाज में व्याप्त उस सोच को प्रस्तुत करती हैं कि समाज में स्त्री चाहे जितना पढ़-लिख जाए, कितनी ही बड़ी नौकरी कर ले, कितनी भी धन-सम्पत्ति अर्जित कर ले; उसे रहना पुरुषरूपी पति, पुत्र के अधीन है। अर्थात् सामाजिक-धार्मिक कार्यों में निर्णय लेने, उन्हें स्वीकार-अस्वीकार करने का अधिकार किसी स्त्री को नहीं है। इनकी आत्मकथा में एक प्रसंग आया है जिसमें लेखिका के विवाह के लिए लेखिका की विधवा माँ कस्तूरी वर खोजने का भरसक प्रयास करती हैं जिसको गाँव-समाज स्वीकार नहीं करता है। समाज की परम्परागत मान्यता है कि विवाह जैसे संस्कारों को पूर्ण करने के लिए पुरुष की आवश्यकता होती है, अर्थात् सामाजिक कार्यों को सम्पन्न करना पुरुषों का जन्म सिद्ध अधिकार है। "इस समाज में वह मनुष्य तो क्या औरत भी नहीं, राँड़ है, बस ऊपर से निपूती। पुरुषों जैसा काम करने से पुरुष जैसी नहीं मान ली जाती स्त्री। सामाजिक कामों के चलते उसे किसी पुरुष की जरूरत होती है, भले ही वह पाँच या दो साल का हो। पति और बेटा कहाँ से लाये कस्तूरी?" हमारे समाज का यही भेदक दृष्टिकोण रहा है। आज भी इस नकारे नजरिये को लोग छाती से चिपकाये फिरते हैं; लेकिन जब समाज में तार्किक शिक्षा की समझ पैदा होती है; तब समाज-हितैषी बुद्धिजीवी जन्म लेते हैं और अनर्गल सामाजिक बुराइयों को त्यागकर एक सभ्य समाज का निर्माण करते हैं और उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं। लेखिका मैत्रेयी पुष्पा (ब्राह्मण जाति) ने अपनी पुत्री का विवाह एक दलित जाति के डॉक्टर से सहर्ष सम्पन्न कराकर एक उदाहरण समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया है। कहने का आशय यह कि समाज में ना-ना प्रकार की भिन्नताओं, कुरीतियों के बावजूद यदि बुद्धिजीवी समुदाय दरियादिली दिखाता है; तब समाज में सुखद और सकारात्मक परिवर्तन संभव है।

स्त्री आत्मकथाकारों द्वारा अपनी आत्मकथाओं में व्यक्त किये अनुभव भी सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था पर प्रश्नचिन्ह खड़े करते हैं। चूँकि भारतीय समाज-संस्कृति की व्यवस्था पुरुषप्रधान है, जहाँ पर स्त्री की स्वतंत्रताएँ, उसका सम्मान, उसका कार्य-व्यवहार और उसकी वैचारिकी को पुरुषसमाज स्वाभाविक रूप से स्वीकार नहीं करता है; क्योंकि भारतीय धार्मिक-सांस्कृतिक साहित्य, रूढ़ियाँ, परम्पराएँ, प्रथाएँ और मर्यादाएँ स्त्री-जाति को सदैव पंगु बनाती आयी हैं। समस्त वर्जनाएँ सिर्फ स्त्रियों पर थोपी गई हैं, उनका पालन कराने के लिए तरह-तरह के हथकंडे अपनाये गए हैं जिन्हें महिलाओं ने या तो धार्मिक-सांस्कृतिक व्यवस्थागत दबाव के कारण स्वतः स्वीकार किया है या फिर अपने लिंगीय स्वभाव के कारण हार मान ली है। इन दो कारणों के अलावा यदि किसी औरत ने अपनी आजादी की घोषणा की है; तब उसे शारीरिक दण्ड, मानसिक दण्ड, सामाजिक दण्ड, यौन शोषण का दण्ड देकर चुप कराया गया है। उक्त सभी तरह की सच्चाइयों का परीक्षण महिला आत्मकथाकारों-रमणिका गुप्ता, मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान, मन्नू भण्डारी, रजनी तिलक आदि के आत्मकथा-लेखन में किया जा सकता है। समसामयिक संदर्भों में स्त्री-विमर्श साहित्य और समाज का प्रमुख विषय बन चुका है। वर्तमान दौर में स्त्री जहाँ एक ओर पुरातन बेड़ियों को तोड़ रही है; वहीं दूसरी ओर वह रचनात्मक, प्रशासनिक और सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वहन भी कर रही है। स्त्री-आत्मकथात्मक साहित्य में मैत्रेयी पुष्पा का सामाजिक, शैक्षणिक और पारिवारिक संघर्ष बखूबी विस्तार पाता है। अपनी बोल्डनेस को आधार बनाकर जहाँ एक ओर मैत्रेयी अपनी मर्जी का विवाह करती है, पति की हर खुशी का ख्याल रखती है; वहीं पति डॉ. शर्मा अपनी पत्नी मैत्रेयी को व्यभिचारी और शंकालु नजरों से ही देखता आया है। अपने जुझारू सामाजिक दायित्वों को एवं रचना धर्मिता को प्रगति देने के लिए मैत्रेयी शराबी एवं आपराधिक प्रवृत्ति के समाज 'कबूतरा' की सेवा सहायता करती है और साहित्यिक रचना-कौशल को अभिव्यक्त करने के लिए कहानी-उपन्यास लेकन का कार्य भी डॉ. राजेन्द्र

यादव के साथ करती हैं। अर्थात् समस्त चुनौतियों को कथाकार मैत्रेयी पुष्पा स्वीकार कर उनका सामना करने में सक्षम होती हैं। लेकिन पत्नी-धर्म की शास्त्र-सम्मत धारणा या समाज से मिली संस्कारी प्रवृत्ति को वह अंत तक त्याग नहीं पाती हैं, भले ही उन्हें प्रतिदिन तिल-तिल की हिकारत भरी जिंदगी स्वीकार करनी पड़ी है। आत्मकथाकार मन्नू भण्डारी भी एक सम्पन्न मारवाड़ी जैन समाज में जन्म लेकर उच्च शिक्षा-दीक्षा प्राप्त कर उच्च शिक्षा संस्थान में सेवा देती हैं, लेकिन उन तमाम चुनौतियाँ का सामना करती हैं जो उन्हें दाम्पत्य जीवन से तक विमुख कर देती हैं। मन्नू भण्डारी द्वारा अप्रगतिशील समाज के सम्मुख प्रगतिशीलता का उदाहरण प्रस्तुत कर बिना माता-पिता की सहमति से राजेन्द्र यादव से अंतरजातीय विवाह करना, उनकी उच्च प्रगतिशीलता का एक श्रेष्ठ उदाहरण है; लेकिन यही मिशाल उन्हें तब नागवार गुजरती है; जब राजेन्द्र यादव मन्नू भण्डारी के साथ वैसा दाम्पत्य जीवन का नजरिया नहीं रखते जैसा कि एक परम्परागत समाज रखता है, या जैसा मन्नू चाहती हैं कि 'यह सिर्फ मेरा पति है, इसमें मेरा ही समस्त अधिकार है।' हालाँकि मन्नू अपने इस परम्परागत नजरिये को अपनी प्रगतिवादी नजरिये से ज्यादा श्रेष्ठ समझती हैं; इसीलिए पति राजेन्द्र यादव से शारीरिक और मानसिक सम्बन्धों का विच्छेद कर लेती हैं। स्त्री आत्मकथाकार प्रभा खेतान ने भी आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' लिखकर यह सिद्ध किया है कि स्त्री शैक्षणिक, आर्थिक, बौद्धिक और शारीरिक रूप से किसी भी पुरुष से कमतर नहीं है। प्रभा ने समाज की उस चुनौती को स्वीकार किया है कि स्त्री किसी भी पुरुष से कमतर नहीं है। प्रभा खेतान यह चुनौती भी स्वीकार करती है कि स्त्री के लिए वैवाहिक जीवन जरूरी नहीं है। स्त्री बिना विवाह के भी सभी शारीरिक-मानसिक सुख भोग सकती है। प्रभा ने आँखों के डाॅक्टर शादी-शुदा पुरुष डाॅ. सर्राफ से एकतरफा प्यार कर शारीरिक संबंध भी बनाये हैं और गर्भपात भी कराया है, लेकिन अंत तक किसी एक पुरुष से कानून विवाह नहीं किया है; जबकि प्रेमी डाॅक्टर के अतिरिक्त अन्य पुरुषों से शारीरिक सुख भी पाया है। आशय यह कि प्रभा बंद सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार न करके मुक्त सामाजिक व्यवस्था की पैरोकार बन जाती हैं। देश-विदेश घूमती हैं, व्यापार करती हैं, अविवाहित रहकर सभी प्रकार के यौन-सुख भोगती हैं और अपने प्रेमी डाॅ. सर्राफ के बच्चों के लिए आर्थिक सहायता भी करती है; फिर भी उनको वह सुख-सहानुभूति, सम्मान समाज से प्राप्त नहीं होता है जो एक विवाहित स्त्री को प्राप्त होता है, अर्थात् अति प्रगतिवादी नजरिया समाज को स्वीकार नहीं है। अति प्रगतिशीलता में व्यक्ति को मानसिक सुख भी प्राप्त नहीं हो पाता है जिसकी वह कामना करता है।

प्रख्यात समाज सेविका, राजनेता एवं साहित्यकार रमणिका गुप्ता ने अपनी आत्मकथाओं- 'आपदुदरी' और 'हादसे' में तमाम सामाजिक, राजनीतिक, पारिवारिक चुनौतियों को स्वीकार किया है। 'एक जिद्दी लड़की' के नाम से अपने पंजाबी परिवार में वह एक उपेक्षित सा जीवन जीकर शारीरिक, मानसिक और शैक्षणिक रूप से सबल बनकर बिहार और झारखण्ड के जनजातीय क्षेत्रों में उनके हक-अधिकारों के लिए संघर्ष करती हैं। एक सामाजिक चुनौती कि- 'लड़कियाँ समाज सेवा और राजनीतिक क्षेत्रों में बिना सहारे सफल नहीं हो सकती हैं' के मिथक को रमणिका तोड़ती हैं और असहाय, निरक्षर, निर्धन, संसाधनहीन आदिवासी समाज की, उनके हितार्थ सामाजिक कार्यकर्ता बन स्त्रियों और आदिवासियों के लिए काम करती हैं और संस्था-संघों का निर्माण करती हैं। यहाँ तक कि अपने परोपकारी व्यवहार और धर्म-पंथ निरपेक्ष, जाति-वर्ण निरपेक्ष भाव से कमजोर-असहायों की सेवा-सहायता कर राजनेता तक बनने में सफल होती हैं। कहने का आशय है कि रमणिका गुप्ता ने समस्त चुनौतियों को स्वीकार कर उनका सामना किया है और सकारात्मक तथा तार्किक कार्य-व्यवहार की बदौलत नवीन दृष्टिकोण अपनाकर अतीत की रूढ़िगत परम्पराओं-मान्यताओं को निरर्थक घोषित करने में भी सफल हुई हैं। ऐसा नहीं है कि रमणिका गुप्ता ने बिना कीमत चुकाये बड़े साहसी काम किये हैं। उसके लिए उन्हें शारीरिक यातनाएँ, मानसिक यातनाएँ और यहाँ तक कि अपना शरीर भी सौंपना पड़ा है। तत्पश्चात् ही रमणिका दलित-आदिवासी स्त्री समाज के लिए काम कर सकी हैं।

भारत के दलित समाज को हमेशा से चुनौतियों और समस्याओं से जूझना पड़ा है। उसने जीवन की सच्चाइयों को स्वीकार करते हुए सवर्णों का जूठन, मरे जानवरों और चूहों के मांस तक को अपना आहार बनाकर पेट पाला है। लेकिन उसने जिजीविषा की उन्नत अभिलाषा में न तो प्राण त्यागे हैं और न ही मांसाहार से परहेज किया है। आत्मकथा 'मुर्दहिया' के लेखक डाॅ. तुलसीराम ने अपने बाल्यकाल में चूहे मारकर खाये हैं। "मैं भी अन्य बच्चों के साथ टिन की बाल्टी तथा झाड़ू लेकर जाता और चूहों को मार-मारकर बाल्टी भर जाने पर उन्हें घर लाता।"6 दलितों ने इस तथ्य या चुनौती को स्वीकार किया है कि पढ़लिखकर अपना और अपने समाज को उन्नतशील बनाना है, जिसे सवर्ण समाज किसी भी हालात में स्वीकार करने को तैयार नहीं रहा है। आत्मकथा 'जूठन' में

आत्मकथाकार ओमप्रकाश ने लिखा है कि पिताजी हमेशा कहते थे कि "पढ-ि लिखकर जाति सुधारनी है" लेकिन सवर्ण समाज इसके उलट यही उद्घोष करता आया है कि दलित कितना ही पढ़-लिख ले, रहेगा तो दलित ही, तभी तो ओमप्रकाश वाल्मीकि का एक जाट जाति का सवर्ण सहपाठी वाल्मीकि से कहता है कि "कितना भी पढ़ लियो, रहेगा तो चूहड़ा ही।"7 इसके बावजूद भी ओमप्रकाश वाल्मीकि एक इंजीनियर और साहित्यकार बनने में सफल रहे हैं। दलित समाज के लिए शिक्षा प्राप्त करना एक बहुत बड़ी चुनौती रही है। हजारों साल की वर्णगत गुलामी से उसके शिक्षा के संस्कार छूट गये थे, लेकिन समाज में कहीं न कहीं शिक्षार्जन के अंश और शिक्षा की महत्ता जेहन में बनी ही रही है। अवसर मिलने पर वह छूटा हुआ संस्कार फलीभूत हुआ है; तभी तो 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' आत्मकथा के लेखक श्यौराज सिंह बेचैन बार-बार पढ़ाई में अनेक कारणों से असफल होने के बाद भी पढ़ाई-लिखाई का मोह नहीं त्याग पाते हैं और दैनिक मजदूरी का काम छोड़कर विद्याध्ययन के लिए तत्पर होते हैं। "मैं पढ़ंगो, एक फेरा कोशिश जरूर करंगो। अगर दसवीं पास नाँय कर पाओ, तो हार मान लिंगो, पर बिना कोशिश करे तो नाँय मानंगो। कोई मेरा संग देउ या मत देउ। मैं एक-एक अक्षर के बदले अपने खून की एक-एक बूँद दे दूंगो, पर पढ़नो नाँय छोड़ंगो। जो तुम सब मेरे खिलाफ हो तो मैं आज से चमरियाने में ही आनो छोड़ि दिंगो। सोइ जाए करंगो मास्टर जी के घर में। भाड़ में जाइ बिरादरी और चूल्हे में जाइ घर-परिवार। मैं पढ़ंगो, अपने बलबूते पै।"8 कथन में श्यौराजसिंह बेचैन ने शिक्षा प्राप्त करने की चुनौती को स्वीकार कर आजीवन सीखने का कार्य किया है, जिसमें देर-सबेर सफलता प्राप्त कर एक सफल लेखक और एक योग्य शिक्षक बने। अर्थात् यदि दृष्टिकोण सामाजिक उन्नयन, वैयक्तिक विकास और तार्किक अवधारणा से प्रेरित है, तब चुनौतियाँ समाधान का रूप स्वतः ग्रहण कर लेती हैं।

भारतीय समाज में एक अति उपेक्षित समुदाय- 'किन्नर' को सकारात्मक नजरिये से स्वीकार नहीं किया गया है। वर्तमान समय में भी प्राकृतिक असंतुलन के कारण कुछ नवजात तृतीय लिंग (थर्ड जेण्डर) के रूप में पैदा होते हैं, जिन्हें बड़े होने पर न तो उनका जन्मदाता परिवार स्वीकार करता है और न ही समाज कोई जिम्मेदारी लेता है। असहाय, बेसहारा, किन्नर अपने भरण-पोषण के लिए भीख माँगने या शरीर बेचने के लिए मजबूर रहता है। किन्नरों के मानसम्मान, भरण-पोषण, सुखमय जीवन की जिम्मेदारी न तो परिवार उठाता है और न ही तथाकथित सभ्य कहा जाने वाला प्रगतिशील समाज। सरकारें भी प्रत्यक्षतः कोई सेवा-सहायता का योगदान नहीं करती हैं। फलतः किन्नर अपनी जलालत भरी जिन्दगी को ही गले लगाने को मजबूर होता है। इस चुनौती को इक्कीसवीं सदी के किन्नर आत्मकथाकारों ने स्वीकार किया है और समाज के सम्मुख मिशाल पेश की है कि किन्नर भी समाजहित के लिए राष्ट्रहित के लिए, व्यक्ति विशेष के लिए अपना सकारात्मक योगदान दे सकते हैं। किन्नर आत्मकथाकार लक्ष्मी त्रिपाठी ने 'मैं लक्ष्मी मैं हिजड़ा' और मानोबी बन्द्योपाध्याय ने 'पुरुष तन में फँसा मेरा नारी मन' आत्मकथा लिखकर यह सिद्ध किया है कि दृढ़ इच्छाशक्ति के सहारे ही किन्नर अपना जीवन सरल-सुगम बना सकता है और समाज सेवा कर लोक हितार्थ अपना योगदान भी दे सकता है। आत्मकथाकार लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी जन्मजात किन्नर हैं जो शरीर संरचना से तो पुरुष हैं लेकिन मन, भावना और मानवीय स्वभाव से स्त्री हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त और नृत्यकला मंे पारंगत लक्ष्मी त्रिपाठी ने न तो समाज से विद्रोह किया है और न ही परिवार को कलंकित किया है। उन्होंने अपनी कला और शिक्षा के माध्यम से परिवार-समाज की आर्थिक सहायता की है और किन्नर समाज के भिन्न-भिन्न प्रकार के संगठन बनाकर किन्नरों के जीवन और उनके समुदाय को खुशहाल बनाने का प्रयास भी किया है। लक्ष्मी त्रिपाठी ने अपना पूरा जीवन किन्नरों के लिए ही समर्पित किया है। इसके लिए उन्हें देश-विदेश में दौराकर किन्नरों की दयनीय स्थिति से समाज को अवगत कराया है। अर्थात् लक्ष्मी त्रिपाठी ने समाज के उस मिथक को तोड़ दिया है कि किन्नर अपना भरण-पोषण सिर्फ भीख माँगकर या नाच-गाकर या शरीर बेचकर ही करते हैं; उनके पास अन्य कोई रास्ता नहीं हैं।

किन्नर लक्ष्मी त्रिपाठी ने 'दाई वेलफेयर सोसायटी' के माध्यम से हिजड़ों के स्वास्थ्य संरक्षण का काम किया है और परिवार नियोजन संबंधी सरकारी योजनाओं के प्रचार-प्रसार में हिस्सा लेकर किन्नर की उपयोगिता भी सिद्ध की है। जो समाज किन्नरों को दुत्कारता था, किन्नरों का यौन शोषण करता था, सार्वजनिक स्थानों में किन्नरों के प्रति नाक भौं सिकोड़ता था; वही समाज (खासकर पुरुष) एकांत में किन्नरों से यौन सुख पाता था; तब भला किन्नर कहाँ दोषी हैं। फिर भी लक्ष्मी त्रिपाठी ने इस तथ्य पर विचार किया है कि किन्नरों को समाज के साथ रहना है, इनके लिए काम करता है, अन्यथा किन्नर समाज अलग-थलग बना ही रहेगा। "हिजड़े हैं, इसलिए ये काम (समाज सेवा) नहीं करेंगे, यही सोच रही तो काम आगे बढ़ेगा कैसे? ऐसा मेरा मानना था। और सच में आप स्त्री हो, पुरुष हो, या हिजड़े हो, इससे कोई काम तय होगा, तो ऐसी सोच से कैसे चलेगा? अगर वो काम करना

है, तो उसे सही ढंग से ही करना पड़ेगा ना? हम हिजड़े हैं, अगर इसका हौआ करने लगें, बाकी समाज से खुद को अलग मानने लगें, अलग बर्ताव करने लगें, तो समाज भी हमें अपना क्यों कहेगा?"9 हर किसी के अपने सपने होते हैं, इच्छाएँ-आशाएँ होती हैं, जिन्हें पूरा करने के लिए भाग-दौड़ की जाती है। लक्ष्मी त्रिपाठी ने भी अपने सपने सँजाये थे, जिन्हें अनेक बाधाओं के बाद पूरा भी किया। कहने का तात्पर्य यह कि जीने के लिए अनेक सामाजिक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। दृढ़ इच्छाशक्ति और सकारात्मक दृष्टिकोण से चुनौतियों का समाधान भी निकलता है। किन्नर लक्ष्मी त्रिपाठी के शब्दों में "मुझे डांसर होना पसंद था, मैंने डांस सीखा, डांसर हुई। मुझे टीचर होना था . . . मैंने डांस क्लासेस शुरू किये, टीचर हुई। मुझे हिजड़ा होना था . . . जिंदगी के एक मोड़ पर मैंने फैसला लिया, और हिजड़ा बनी।"10 अर्थात् लक्ष्मी ने अपने सभी सपने साकार किये जिन्हें चुनौती के रूप में स्वीकार किया था।

इसी तरह का कार्य-व्यवहार किन्नर मनोबी बंद्योपाध्याय ने भी किया है। मानोबी ने अपनी आत्मकथा 'पुरुष तन में फँसा मेरा नारी मन' में यह सिद्ध किया है कि यदि एक किन्नर अपनी दृढ़-इच्छाशक्ति से यह निश्चित कर लेता है कि उसे भले ही समाज बहिष्कृत कर दे, परन्तु वह किसी के टुकड़े पर नहीं पलेगा; तब वह निश्चित ही एक उदाहरण बन मानक स्थापित कर सकता है। उच्च शिक्षा प्राप्त मानोबी (पूर्व नाम सोमनाथ) अपनी लगन और मेहनत से उच्च शिक्षा प्राप्त कर उच्च शिक्षण संस्थान में सरकारी सेवा (प्राचार्य) तक प्राप्त कर लेती हैं। ऐसा नहीं है कि कोलकाता की मानोबी ने किन्नर के हिस्से का दुःख-दर्द नहीं झेला हो; बल्कि पग-पग पर उसे अपमान, असुविधा, आर्थिक तंगी और यौन शोषण से शारीरिक क्षति तक उठानी पड़ी है, लेकिन अपने कार्य एवं स्वभाव की उच्चता के कारण उन्होंने एक उच्च पायदान प्राप्त किया है। इतना ही नहीं अपनी दिली इच्छा पूर्ति के लिए चिकित्सीय सर्जरी से अपने आपको पूर्णतः स्त्रीलिंग में परिवर्तित होने में भी सफलता पाई है। अर्थात् बलात् पुरुष शरीर में स्त्री की आत्मा का बने रहना मानोबी को पल-पल अखरता था, जिससे उन्होंने पूर्णतः मुक्ति भी पायी है। मानोबी ने एक किन्नर होते हुए सिर्फ अपना ही भला नहीं किया है, बल्कि किन्नरों के हितार्थ सामाजिक संगठनों में सहभागिता कर किन्नरों के हक-अधिकारों के लिए भी संघर्ष किया है और अपनी योग्यता का योगदान किन्नरों के लिए किया है, साथ ही एक लड़के को दत्तक पुत्र मानकर उसकी सम्पूर्ण जिम्मेदारियों को वहन करने का उत्तरदायित्व भी निभाया है।

प्रकृति प्रदत्त स्वभाव और बाहरी तौर पर सामाजिक स्तर पर किये गए छद्म व्यवहार में बहुत अन्तर होता है। सामाजिक या परम्परागत दायरे में वही व्यवहार स्वीकृत होता है जिसकी अपेक्षा दूसरों द्वारा की जाती है, लेकिन ऐसे दोहरे व्यवहार से स्व का अस्तित्व समाप्त सा हो जाता है। 'पुरुष तन में फँसा मेरा नारी मन' आत्मकथा की लेखिका किन्नर मानोबी बन्द्योपाध्याय इसी तरह के दोहरे चरित्र को जीते-जीते ऊब जाती हैं और समाज की उस भयानक चुनौती को स्वीकार करती हैं कि वह भले ही पुरुष के रूप में पैदा हुई हैं, समाज पुरुष के रूप में जानता-मानता भी है, पर वह पूर्ण पुरुष न होकर स्त्री-स्वभाव एवं विचार के अधिक निकट है; इसलिए मानोबी ने स्वतः दृढ़ संकल्प धारण किया है कि "अगर मुझे सच्ची लैंगिक पहचान को स्थापित करने में मौत का भी सामना करना पड़ता, तो मैं ऐसा करने को तैयार थी। मैं सारी दुनिया को साबित करना चाहती थी कि मैं एक स्त्री हूँ और ऐसा करने के लिए मैं कुछ भी करने को तैयार थी।"11 मानोबी ने इस दृढ़ संकल्प को अपनी सफल चिकित्सीय सर्जरी कराकर पूरा भी किया है। अब मनोबी बन्द्योपाध्याय का तन 'पुरुष' का न होकर पूरी तरह से 'स्त्री' का हो चुका है; उसमें आत्मा तो जन्म से स्त्री की ही निवास करती थी।

निष्कर्ष- इक्कीसवीं सदी के प्रथम चतुर्थांश में प्रकाशित आत्मकथाओं में उन चुनौतियों को स्वीकार कर एक दृष्टिकोण मुखरित हुआ है कि पूर्वकाल से चली आ रही व्यवस्थाएँ, परम्पराएँ यदि लाभकारी या हितकर नहीं हैं तब उन्हें बदलने में देर नहीं लगानी चाहिए। वर्णित आत्मकथाओं में उन तमाम तथ्यों का, विधानों का उल्लेख है जो किसी भी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए उन्नत फलदायी नहीं हैं। ऐसे विधानों, परम्पराओं, नियम-कानूनों का त्याग या बहिष्कार समाजोन्नति के हित में है। दलित आत्मकथाएँ हों, या स्त्री आत्मकथाएँ हों; अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए उन्होंने चुनौतियों को स्वीकार किया है और उस परम्परा या व्यवस्थागत ढाँचे से बाहर आने में सफलता पाई है जो व्यक्ति और समाज को जकड़कर पश्चगामी बनाने के लिए सदैव तुले रहे हैं। इक्कीसवीं सदी के इस दौर में आत्मकथाकारों में अनेकानेक वर्जनाओं को धराशायी कर प्रगतिशीलता के उस मार्ग को प्रशस्त किया है जो समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व और लोकतंत्र की अनिवार्य शर्त को स्वीकार करते हैं। स्त्री-आत्मकथाकारों ने सामाजिक परिवर्तन के लिए, अपनी अस्मिता-संरक्षण के लिए लेखन को माध्यम बनाकर समाज को सोचने और सकारात्मक बदलाव के लिए प्रेरित किया है और स्वयं भी उदाहरण बनकर एक मिशाल

पेश की है। समाज में व्याप्त विभिन्न प्रकार के नकारात्मक-सकारात्मक दृष्टिकोणों, व्यवहारों, क्रिया-कलापों पर अनुसंधान करने के लिए स्त्री-आत्मकथाओं में पर्याप्त मात्रा में तथ्य मौजूद हैं। अतः स्त्री-आत्मकथाओं को आधार मानकर अनेक प्रकार के सामाजिक सरोंकारों का अनुसंधानपरक विश्लेषण किया जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची-

1 भण्डारी मन्नू: एक कहानी यह भी, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, जी-17, जगतपुरी, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2007, आठवाँ (पेपर बैक) संस्करण- 2022, पृष्ठसंख्या- 18

2 मिश्रा अहिल्या: दरकती दीवारों से झाँकती जिन्दगी, गीता प्रकाशन, 4-2-771, रामकोर चैरस्ता, हैदराबाद, तेलंगाना, प्रथम संस्करण- 2021, पृष्ठसंख्या- 77

3 खेतान प्रभा: अन्या से अनन्या, राजकमल प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2007, छठा संस्करण- 2021, पृष्ठसंख्या-12

4 गुप्ता रमणिका: आपहुदरी, सामयिक प्रकाशन, 332021, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2015, पृष्ठसंख्या- 149

5 पुष्पा मैत्रेयी: कस्तूरी कुण्डल बसै, राजकमल प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2002, पाँचवाँ संस्करण (पेपर बैक)-2021, पृष्ठसंख्या- 72

6 डाॅ. तुलसीराम: मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2010, आठवाँ संस्करण (पेपर बैक)- 2021, पृष्ठसंख्या- 33

7 वाल्मीकि ओमप्रकाश: जूठन (भाग-एक), राधाकृष्ण प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, जी-17, जगतपुरी, नई दिल्ली, प्रथम प्रकाशन- 1997, पेपर बैक (पंद्रहवाँ) संस्करण- 2020, पृष्ठसंख्या- 40

8 बेचैन श्यौराज सिंह: मेरा बचपन मेरे कंधों पर, वाणी प्रकाशन 4695, 21-1, दरियागंज नई दिल्ली, तृतीय संस्करण- 2018, पृष्ठसंख्या- 301

9 त्रिपाठी लक्ष्मी नारायण: मैं लक्ष्मी मैं हिजड़ा, वाणी प्रकाशन 4695, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण (पेपर बैक)- 2021, पृष्ठसंख्या- 65

10 त्रिपाठी लक्ष्मी नारायण: मैं लक्ष्मी मैं हिजड़ा, वाणी प्रकाशन 4695, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण (पेपर बैक)- 2021, पृष्ठ संख्या- 155

11 बन्द्योपाध्याय मानोबी: पुरुष तन में फँसा मेरा नारी मन, प्रकाशन- राजपाल एण्ड संस 1590, मदरसा रोड, कश्मीरी गेट, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2018, पृष्ठसंख्या- 98